

चींटी

चींटी को देखा?
वह सरल, विरल, काली रेखा
तम के तागे सी जो हिल-डुल,
चलती लघु पद पल-पल मिल-जुल,
यह है पिपीलिका पाँति! देखो ना, किस भाँति
काम करती वह सतत, कन-कन कनके चुनती
अविरत।

गाय चराती, धूप खिलाती,
बच्चों की निगरानी करती
लड़ती, अरि से तनिक न डरती,
दल के दल सेना संवारती,
घर-आँगन, जनपथ ब्रुहारती।

चींटी है प्राणी सामाजिक,
वह श्रमजीवी, वह सुनागरिक।
देखा चींटी को?
उसके जी को?

भूरे बालों की सी कतरन,
छुपा नहीं उसका छोटापन,
वह समस्त पृथ्वी पर निर्भर
विचरण करती, श्रम में तन्मय
वह जीवन की तिनगी अक्षय।

वह भी क्या देही है, तिल-सी?
प्राणों की रिलमिल झिलमिल-सी।
दिनभर में वह मीलों चलती,
अथक कार्य से कभी न टलती।

सुमित्रानंदन पंत

∞∞∞∞∞∞∞∞∞∞∞∞∞∞∞∞∞∞∞∞∞∞∞∞∞

चाँद का कुर्ता

हठ कर बैठा चाँद एक दिन, माता से यों बोला,
"सिलवा दो माँ, मुझे ऊन का मोटा एक झिंगोला।

सन-सन चलती हवा रात भर, जाड़े से मरता हूँ,
ठिठुर-ठिठुर कर किसी तरह यात्रा पूरी करता हूँ।

आसमान का सफर और यह मौसम है जाड़े का,
न हो अगर तो ला दो, कुर्ता ही कोई भाड़े का।"

बच्चे की सुन बात कहा माता ने, "अरे सलोने,
कुशल करें भगवान, लगे मत तुझको जादू-टोने।

जाड़े की तो बात ठीक है, पर मैं तो डरती हूँ,
एक नाप में कभी नहीं तुझको देखा करती हूँ।

कभी एक अंगुल भर चौड़ा, कभी एक फुट मोटा,
बड़ा किसी दिन हो जाता है और किसी दिन छोटा।

घटता बढ़ता रोज, किसी दिन ऐसा भी करता है,
नहीं किसी की आँखों को दिखलाई पड़ता है।

अब तू ही तो बता, नाप तेरा किस रोज लिवायें,
सीं दें एक झिंगोला जो हर दिन बदन में आये।"

- रामधारी सिंह दिनकर

∞∞∞∞∞∞∞∞∞∞∞∞∞∞∞∞∞∞∞∞∞∞∞∞∞

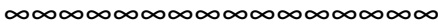
एक बूँद

ज्यों निकल कर बादलों की गोद से
थी अभी एक बूँद कुछ आगे बढ़ी,
सोचने फिर-फिर यही जी में लगी
हाय क्यों घर छोड़कर मैं यों बढ़ी।

मैं बचूँगी या मिलूँगी धूल में,
चू पड़ूँगी या कमल के फूल में।
बह गई उस काल एक ऐसी हवा
वो समन्दर ओर आई अनमनी,
एक सुन्दर सीप का मुँह था खुला
वो उसी में जा गिरी मोती बनी।

लोग यों ही हैं झिझकते सोचते
जबकि उनको छोड़ना पड़ता है घर,
किन्तु घर का छोड़ना अक्सर उन्हें
बूँद लों कुछ और ही देता है कर।

अयोध्या सिंह
उपाध्याय 'हरिऔध'



माँ! यह वसंत ऋतुराज री!

मह-मह-मह डाली महक रही
कुहु-कुहु-कुहु कोयल कुहुक रही
संदेश मधुर जगती को वह
देती वसंत का आज री!
माँ! यह वसंत ऋतुराज री!

गुन-गुन-गुन भौरे गूँज रहे
सुमनों-सुमनों पर घूम रहे
अपने मधु गुंजन से कहते
छाया वसंत का राज री!
माँ! यह वसंत ऋतुराज री!

मृदु मंद समीरण सर-सर-सर
बहता रहता सुरभित होकर
करता शीतल जगती का तल
अपने स्पर्शों से आज री!
माँ! यह वसंत ऋतुराज री!

फूली सरसों पीली-पीली
रवि रश्मि स्वर्ण सी चमकीली
गिर कर उन पर खेतों में भी
भरती सुवर्ण का साज री!
मा! यह वसंत ऋतुराज री!

माँ! प्रकृति वस्त्र पीले पहिने
आई इसका स्वागत करने
मैं पहिन वसन्ती वस्त्र फिरुं
कहती आई ऋतुराज री!
माँ! यह वसंत ऋतुराज री!

द्वारिका प्रसाद माहेश्वरी

फूल और काँटा

हैं जन्म लेते जगह में एक ही,
एक ही पौधा उन्हें है पालता
रात में उन पर चमकता चाँद भी,
एक ही सी चाँदनी है डालता।

मेह उन पर है बरसता एक सा,
एक सी उन पर हवाएँ हैं बही
पर सदा ही यह दिखाता है हमें,
ढंग उनके एक से होते नहीं।

छेदकर काँटा किसी की उंगलियाँ,
फाड़ देता है किसी का वर वसन
प्यार-डूबी तितलियों का पर कतर,
भँवर का है भेद देता श्याम तन।

फूल लेकर तितलियों को गोद में
भँवर को अपना अनूठा रस पिला,
निज सुगन्धों और निराले ढंग से
है सदा देता कली का जी खिला।

है खटकता एक सबकी आँख में
दूसरा है सोहता सुर शीश पर,
किस तरह कुल की बड़ाई काम दे
जो किसी में हो बड़प्पन की कसर।

अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'